



अष्टांग योग—एक विश्लेषण

अजित कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, लेडी श्रीराम महाविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश

मानव—व्यवहार का सीधा सम्बन्ध उसके मस्तिष्क से है, क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया मन से प्रेरित होने पर ही सम्पन्न होती है। मनोविज्ञान के अनुसार भी यदि व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाना चाहते हैं तो उसके चेतन तथा अचेतन मन का अध्ययन कर विभिन्न मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा यह संभव हो सकता है। योग—दर्शन में इस मन अथवा मस्तिष्क को चित्त पद से अभिहित किया गया है, यही सांख्य का महत् है। इसकी उत्पत्ति प्रकृति से सर्वप्रथम हुई है। यह यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसके अन्तर्गत आत्मचैतन्य, मन एवं बुद्धि भी समाहित है। विज्ञानभिक्षु अन्तःकरण सामान्य को चित्त मानते हैं। व्यास देव ने चित्त की उपमा दो धाराओं वाली नदी से दी है जिसकी एक धारा कल्याण के लिए, दूसरी पाप के लिए बहती है। यद्यपि चित्त भोग एवं मोक्ष दोनों ओर ही गति करने की सामर्थ्य रखता है तथापि वह अनादिकाल से चले आ रहे स्वभाववश, पापवाहिनी धारा की ओर ही प्रवाहित होकर निरन्तर विषय वासनाओं में फंसा रहता है। मनुष्य की विषयासक्ति का कारण बताते हुए कठोपनिषद् में तो यह कहा गया है कि स्वयंभू ने इन्द्रियों को रचा ही बाह्य विषयोन्मुख है तब वे अन्तर्मुखी न हों तो क्या आश्चर्य? प्रसिद्ध दार्शनिक राधाकृष्णन् भी विषयासक्ति को आत्म—साक्षात्कार में बाधक मानते हुए लिखते हैं यद्यपि हममें से प्रत्येक के अन्दर आत्मा का बीज उपस्थित है, पर हमारा चैतन्य इसे ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि यह अन्य वस्तुओं में अत्यन्त व्यग्रता के साथ रमा रहता है।

अतएव मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह विषय वासनाओं में न फंस कर अपने चित्त को विपरीत दिशा में गतिशील बनाये, इसके लिए उसे कठोर परिश्रम करना होगा। विभिन्न दार्शनिकों ने मोक्ष प्राप्ति के भिन्न—भिन्न साधनों का वर्णन किया है। योग—दर्शन में पतंजलि ने साधक भेद से साधनों में भी भेद किया है। इसका स्पष्ट उल्लेख यद्यपि स्वयं पतंजलि ने नहीं किया तथापि प्रसंगानुकूल अर्थ व्याख्याकारों ने लगाए हैं। उन्होंने जिन साधनों का उल्लेख किया है, वे हैं—अभ्यास—वैराग्य, क्रियायोग एवं अष्टांगयोग।

व्यास, भोजदेव एवं वाचस्पति मिश्र आदि व्याख्याकारों ने साधकों की दो श्रेणियाँ मानी हैं— एक वे साधक होते हैं जिनका चित्त पूर्वजन्म के प्रताप से समाहित अवस्था में होता है, जो योगरूढ़ कहे जाते हैं, दूसरे साधक वे हैं जिनका चित्त व्युत्थित (चंचल) है और विषय वासनाओं में ही फंसा हुआ है, परन्तु फिर भी वे योग—मार्ग पर अग्रसर होने के इच्छुक हैं, इन्हें आरुरुक्षु की संज्ञा दी जाती है। इनमें से जो पहले प्रकार के साधक हैं उनके लिए ही अभ्यास एवं वैराग्य रूप साधनों का उपदेश दिया गया है और अन्य साधन क्रियायोग तथा अष्टांगयोग व्युत्थित चित्त वाले साधकों के लिए है, क्योंकि वे अभ्यास एवं वैराग्य को सिद्ध करने में सक्षम नहीं होते।

मूल शब्द: योग, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, समाधि, ध्यान

प्रस्तावना

अष्टांग योग का निरन्तर अभ्यास करने से साधक के चित्त में विद्यमान अविद्या रूपी मल शनैः शनैः समाप्त होता जाता है और साथ ही उस क्षयक्रम की अनुरोधिनी विवेकख्याति उदित होती जाती है। अभ्यासाधिक्य से एक दिन साधक का चित्त पूर्णरूप से मल—रहित हो जाता है तथा दूसरी ओर इसके फलस्वरूप यह विवेकख्यातिसम्पन्न होकर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। के. दामोदरन् के शब्दों में हम इस रूप में जान सकते हैं कि अष्टांगयोग का अनुसरण करने से साधक निम्न—स्तर पर होता हुआ भी क्रमशः उच्च—स्तर पर उठता हुआ परमानन्द की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

योग के जिन आठ अंगों का उपदेश किया गया है वे हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि। योग के इन आठों अंगों का पालन करना साधक के लिए अनिवार्य है। विशेष—परिस्थिति को छोड़कर वह सभी अंगों का पालन न करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता है। इन आठ अंगों को नैतिकता, शारीरिक अनुशासन एवं मानसिक अनुशासन के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम दो अंग यम एवं नियम साधक को नैतिक दृष्टि से अनुशासित करते हैं। यम एवं नियम व्यक्ति के व्यवहार को अनुशासित करते हैं चाहे वह बाह्य संसार के साथ हो अथवा स्वयं

के प्रति हो। के. दामोदरन् के अनुसार इनका उद्देश्य इन्द्रियों एवं चित्त को चंचल बनाने वाली विषय वासना एवं उद्वेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करना होता है। दूसरे अंग से तात्पर्य है आत्म—संस्कार द्वारा अपनी आदर्शों पर नियन्त्रण स्थापित करके उन्हें नियमित करना। राधाकृष्णन् ने तो इनके अभ्यास से सभी प्रकार के सांसारिक एवं पारलौकिक विषयों के प्रति वैराग्य की प्राप्ति का वर्णन किया है।

दूसरी श्रेणी में आने वाले योगांग हैं— आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार ये तीनों ही शारीरिक अनुशासन से सम्बन्धित हैं, परन्तु इनका लक्ष्य मन की स्थिरता प्राप्त करना ही है।

तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत धारणा, ध्यान एवं समाधि को लिया जा सकता है इनका सम्बन्ध मात्र मानसिक अनुशासन से है। इन तीनों को सम्प्रज्ञात योग के अंतरंग साधन कहा गया है क्योंकि वे समाधि के साक्षात् कारण हैं।

अन्य पांच बहिरंग साधन माने जाते हैं क्योंकि उनका समाधि की सिद्धि में साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। परन्तु परम्परया ये भी चित्त को समाधि के योग्य बनाने में सहायक होते हैं अतएव उनकी कारणता तो असंदिग्ध ही है।

1. यमः यम पद यम् उपरमे धातु से घञ् प्रत्यय लगकर बना है अतएव इसके अन्तर्गत निर्दिष्ट उपाय, विधि न होकर निषेध-परक ही है। सूत्रकार पतंजलि ने यमों को पांच माना है। वे हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।¹ यदि इनके विस्तृत भावों को जानेंगे तो हम देखेंगे कि सांसारिक व्यवहार में मानव के लिए अपेक्षित सभी नैतिक मूल्यों का इनमें समावेश कर दिया गया है। अतएव अन्य ग्रन्थों में यमों की संख्या जहां दस² भी मानी गई है उससे इनमें विरोध नहीं मानना चाहिए।

अहिंसा: अहिंसा से तात्पर्य किसी भी प्राणी को, किसी भी काल अथवा प्रदेश में किसी प्रकार से पीड़ा पहुंचाना है। कोई मनुष्य अन्य प्राणी को मन, वचन अथवा अपने कुकृत्यों द्वारा कष्ट दे सकता है अतएव साधक को प्रयास करना चाहिए कि यह दूसरों के प्रति सद्भावना रखते हुए, परुष-वचनों से रहित होकर व्यवहार करे। इस प्रकार वह विश्वबन्धुत्व की भावना से युक्त होकर निश्चय ही प्रसन्न चित्त हो राग-द्वेष से रहित हो जायेगा। विज्ञान-भिक्षु ने आश्रमविहित नित्यकर्म के अविरोधी अहिंसा के परिपालन का समर्थन किया है।³ उनके मत में शौचादि जो नित्य-कर्म हैं उनमें छोटे-छोटे अनेक जीवों की हत्या तो अनिवार्य ही है अतएव पूर्ण रूप से अहिंसा के पालन करने हेतु साधक को उसके नित्य कर्मों से वंचित करने का उपदेश देना सूत्रकार को अभिमत नहीं है। इनके मत में शास्त्र के अन्तर्गत जो साधक को नित्य प्राणायामादि करने का विधान किया गया है वह इन हत्याओं से उत्पन्न पाप का क्षय करने हेतु ही है।

अहिंसा का पालन करने के लिए हिंसा के स्वरूप को भली-भांति जान लेना परमावश्यक है, क्योंकि हिंसा से बचना ही तो अहिंसा है। स्वयं की गई हिंसा के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा कराये गये हिंसक कार्य अथवा अन्य द्वारा किये जाते हुए दुष्कृत्यों का अनुमोदन करना भी हिंसा की श्रेणी में ही आ जाता है।⁴ अतएव साधक को चाहिए कि वह न स्वयं किसी प्राणी को पीड़ित करे और न ही अन्य को ऐसा करने के लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रेरित करे। इस तीन प्रकार की हिंसा के तीन-तीन भेद लोभ, मोह अथवा क्रोधवश होने से हो जाते हैं। पुनः प्रत्येक प्रकार की हिंसा के मृदु, मध्य एवं अधिमात्र ये तीन-तीन भेद होने से सत्ताइस भेद हुए, इन सत्ताइस का पुनः मृदु, मध्य एवं अधिमात्र रूप में विभाजन करने पर इक्यासी भेद हो जाते हैं। अतएव हिंसा के इन इक्यासी भेदों से बचना ही पूर्ण अहिंसा है। योगांगों में सर्वप्रथम अहिंसा के नामसंकीर्तन का उद्देश्य अहिंसा का सर्वोत्कृष्टता को द्योतित करना है। भोजराज के मत में हिंसा समस्त अनर्थों का मूल है, यही कारण है कि अहिंसा का निर्देश सर्वप्रथम किया गया है। ई. वुड के मत में अहिंसा को सर्वप्रथम रखने का एक निश्चित अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति अहिंसापूर्वक जीवन व्यतीत करता है उसे ऐसा अनुभव होता है मानों वह स्वेच्छा पूर्वक जी रहा हो। यह हमें अपने आप को अधिकतम रूप से उपयोगी बनाते हुए दूसरे को कम से कम पीड़ा पहुंचाने के लिये प्रेरित करता है। भाष्यकार के मत में अहिंसा समस्त अन्य सत्यादि यमों एवं शौचादि पांचों नियमों का मूल है तथा वे सब इसकी सिद्धि के लिए ही प्रतिपादित किये गए हैं।⁵ वाचस्पति मिश्र के अनुसार यहां सिद्धि से तात्पर्य ज्ञानोत्पत्ति से है। भाष्यकार आगे लिखते हैं कि अन्य यम एवं नियम उस अहिंसा को अत्यन्त निर्मल करने हेतु ही उपदिष्ट है।⁶ वाचस्पति मिश्र का मत है कि यदि अन्य सत्य आदि यमों का पालन न किया गया तो वह अहिंसा असत्य आदि के द्वारा मलिन हो जायेगी इसी हेतु उनका उपदेश किया गया है।⁷ भाष्यकार अपने मत की पुष्टि में पंचशिखाचार्य के मत को उद्धृत करते हैं— मुमुक्षु ब्राह्मण जैसे-जैसे अनेक (यमादि) व्रतों का अनुष्ठान करता है वैसे-वैसे प्रमादवश की गई हिंसा से पराङ्मुख होता हुआ उसी अहिंसा को अत्यन्त निर्मल करता जाता है। विज्ञानभिक्षु ने अहिंसा के उत्कर्ष द्योतन हेतु मोक्ष-धर्म से एक श्लोक उद्धृत किया है— जिस प्रकार नाग अर्थात् हाथी के पद में अन्य

सभी पदगामियों के पद निमज्जित हो जाते हैं उसी प्रकार अहिंसा में ही सत्य आदि सभी धर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। स्मृति में भी अहिंसा परमो धर्मः ऐसा कहा गया है।

अहिंसा की सिद्धि हो जाने पर उस योगी के सामीप्य मात्र से समस्त प्राणियों का पारस्परिक शाश्वतिक वैर भी समाप्त हो जाता है तथा चूहा एवं बिल्ली सर्प तथा नेवले भी परस्पर मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने प्राणियों के सहज-वैर का त्याग माना है।

सत्यः प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम प्रमाण के द्वारा प्राप्त ज्ञान को मन तथा वचन से उसी रूप में संक्रामित करना सत्य है।⁸ उसी रूप में संक्रामित करने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार का ज्ञान वक्ता के मन में है उसके वचनों द्वारा यदि श्रोता के मन में भी वैसा ही ज्ञान उत्पन्न हो तो वह सत्य कहा जायेगा अन्यथा नहीं।⁹ इस विषय में वाचस्पति मिश्र¹⁰ एवं विज्ञानभिक्षु¹¹ दोनों ने महाभारत से एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है— द्रोणाचार्य के द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या अश्वत्थामा मारा गया? धर्मराज युधिष्ठिर का यह उत्तर कि हाँ, अश्वत्थामा मारा गया, आंशिक सत्य होने पर भी सत्य नहीं है, क्योंकि युधिष्ठिर को चक्षु इन्द्रिय के प्रत्यक्ष से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ था वह हस्ति-विषयक था और द्रोणाचार्य को वह ज्ञान न होकर जो ज्ञान उत्पन्न हुआ वह अपने पुत्र विषयक हुआ। अतएव यह सत्य नहीं था।

योगियों को पूर्णरूप से सत्य की सिद्धि हो जाने पर अर्थात् कोई भी परिस्थिति जब उसे सत्यभाषण से न डिगा सके, तो क्रिया एवं फल उसके आश्रित हो जाते हैं। यहां पर 'क्रियाफलाश्रयत्वम्' में प्रायः सभी टीकाकारों ने द्वन्द्व समास माना है और अर्थ किया है कि समस्त क्रियाएं यथा धर्म एवं अधर्म आदि जो क्रियासाध्य होते हैं तथा फल अर्थात् उन क्रियाओं के परिणामस्वरूप जो स्वर्गादि की प्राप्ति रूप फल¹² होते हैं वे समस्त अर्थात् सभी प्राणियों के इस योगी के आधीन हो जाते हैं। अधीन होने से तात्पर्य यह है कि इसकी वाणी अमोघ हो जाती है। यह जिसको जैसी क्रिया करने को कहता है वह अनायास ही उस कार्य में रत हो जाता है तथा जिसको जिस फल की प्राप्ति के लिए कह देता है उसे उसकी प्राप्ति निश्चय ही हो जाती है।

अस्तेयः यमों में तीसरा स्थान अस्तेय का है। भोजदेव के अनुसार दूसरे के धन को हरण करना चोरी है, स्तेय है, और उसका अभाव ही अस्तेय कहलाता है।¹³ परन्तु भाष्यकार व्यास ने दूसरे के द्रव्यों का अशास्त्रीय उपायों से ग्रहण करना तो स्तेय माना ही है साथ ही स्पृहा को भी स्तेय के अन्तर्गत मानते हुए उसका भी त्याग अस्तेय है ऐसा कहा है। वाचस्पति मिश्र कारण सहित व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि कोई भी कायिक तथा वाचिक कर्म मानस-व्यापार पूर्वक ही होता है अतएव मानस व्यापार की प्रधानता होने के कारण, अस्पृहा रूप मानस व्यापार को ही अस्तेय कहा गया है। लिंग-पुराण में भी मन, वचन तथा कर्म तीनों ही प्रकार से आपत्ति के समय में भी दूसरे के द्रव्य को ग्रहण न करना अस्तेय का लक्षण बताया है।

योगी में अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसे समस्त दिशाओं में विद्यमान रत्नों की प्राप्ति हो जाती है।¹⁴ भोजदेव ने यहां पर रत्न के साथ दिव्य विशेषण लगाते हुए व्याख्या की है।

ब्रह्मचर्यः योगमार्ग के पथिक के लिये ब्रह्मचर्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उपस्थेन्द्रिय को संयमित रखना ही ब्रह्मचर्य है। इसके प्रतिष्ठित हो जाने पर वीर्य का लाभ बताया गया है।¹⁵ वीर्य से तात्पर्य सामर्थ्य से है, जिसके द्वारा साधक को अणिमादि गुणों की प्राप्ति होती है। ऐसा वाचस्पतिमिश्र मानते हैं। परन्तु विज्ञानभिक्षु गुणों का अर्थ अणिमा आदि न करके ज्ञानक्रिया आदि को मानते हैं। वाचस्पति मिश्र का मत है कि भाष्यकार द्वारा जो सिद्ध हो जाने पर शिष्यों को उपदेश देने की बात

कही गई है उससे तात्पर्य तारा आदि आठ सिद्धियों से युक्त होकर साधक शिष्यों को योग तथा उसके अंगों का ज्ञान देने में समर्थ हो जाता है, परन्तु विज्ञानभिक्षु सिद्धि-विशेष से युक्त होना न मानते हुए ज्ञान, क्रिया आदि से युक्त होने पर स्वयं ज्ञानी होकर अपने शिष्यों को ज्ञान देने में वह समर्थ हो जाता है ऐसा मानते हैं।

अपरिग्रह: यमों में अन्तिम स्थान अपरिग्रह का है, इसके द्वारा साधक में वैराग्य भावना की जागृति होती है।

अर्जन, रक्षण, आसक्ति एवं हिंसादि अनेकों दोषों से युक्त जानते हुए विषयों को ग्रहण न करना अपरिग्रह है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि जो विषय शास्त्रीयरीति पूर्वक ग्रहण किये जाते हैं। उनमें भी विभिन्न दोष हैं तो फिर अशास्त्रीय विषय जो कि बिना उद्यम के भी प्राप्त हुए हों निश्चय ही निन्दित साधनों के अधीन होने के कारण अर्जन-दोष युक्त होने से अस्वीकरणीय है।

विभिन्न दोषों से युक्त जानकार यदि विषयों का त्याग किया जाता है तो स्वाभाविक है कि उनके प्रति आसक्ति का सर्वथा अभिभव हो, वैराग्य की भावना प्रबल हो जाती है, जो कि विवेकज्ञान के मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए अत्यन्तावश्यक है। यह वैराग्य पहले बाह्य विषयों के प्रति होता है फिर पारलौकिक विषयों में भी साधक अनेक दोषों को देखता है तो वह यहाँ (इह लोक) और वहाँ (परलोक) के सभी विषयों से विरक्त हो जाता है। वैराग्य की भावना के अधिक प्रबल होने पर उसे अपनी देह के प्रति भी कोई आसक्ति नहीं रह जाती। ऐसा भोजदेव का मत है। अपरिग्रह की प्रतिष्ठा हो जाने पर साधक को स्वजन्मविषयक समस्त जिज्ञासाओं की शान्ति हो जाती है। वह अपने भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सभी जन्मों के स्वरूप एवं कारण को जान लेता है।

अस्तेय एवं अपरिग्रह दोनों में ही वस्तुओं के ग्रहण की सीमा निर्धारित की गई है परन्तु फिर भी अन्तर यह है कि अस्तेय मनुष्य को दूसरे के अधिकारों का हनन करते हुए अशास्त्रीय विधि से वस्तुओं को ग्रहण न करने का उपदेश देता है और अपरिग्रह समस्त ही वस्तुओं में विभिन्न दोषों को देखते हुए न ग्रहण करने के लिए प्रेरित करता है। दोनों की भावना में अन्तर है। ये पांचों यम सार्वभौम महाव्रत कहे गये हैं, क्योंकि कोई जाति, स्थान-विशेष एवं काल-विशेष में ही इनका पालन किया जाना चाहिए, अन्य स्थानों, समय एवं जाति के प्रति इनका कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु ये नैतिक आचार तो सार्वजनिक, सार्वकालिक एवं सब ही स्थानों में व्यवहार में लाये जाने चाहिए।

2. नियम

साधक के नैतिक स्तर को उच्च बनाने के लिए यमों के महत्व को विस्तारपूर्वक दिखा देने के बाद अब साधक की आत्मशुद्धि के हेतु नियमों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है—पतंजलि ने शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों¹⁶ को साधक की आत्मशुद्धि एवं उन्नति में सहायक माना है।

शौच: शौच का अर्थ है शुद्धि अर्थात् किन्हीं साधनों के द्वारा मल को दूर कर स्वच्छ बनाना। यहाँ पर बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार के शौच बताए गए हैं। बाह्य-शौच से तात्पर्य यह है कि मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर की बाह्य गन्दगी को दूर कर स्वच्छता प्रदान करना तथा मेध्य पदार्थों आदि के भक्षण द्वारा शरीर के आन्तरिक विकारों को उत्पन्न होने से रोकना। भाष्यकार ने बाह्य शौच को मृज्जलादिजनित बताया है उनके द्वारा प्रयुक्त आदि शब्द के द्वारा वाचस्पति मिश्र ने गोमय आदि पदार्थों को माना है, क्योंकि गाय के गोबर में कीटाणुओं को नष्ट करने की शक्ति निहित होती है अतएव उसका लेपन करके साधना स्थल को शुद्ध किया जा सकता है।

इस स्थूल शरीर का बाह्य शौच जितना आवश्यक है उससे भी अधिक आवश्यकता इसके आन्तरिक शौच की है क्योंकि यदि शरीर के अन्दर

शुद्धि न हुई तो विभिन्न रोग साधक को आ घेरेंगे, जिसका परिणाम होगा कि वह साधना में सफल न हो सकेगा। समस्त धर्मों की पूर्ति के लिए शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना नितान्त आवश्यक है।¹⁷

भाष्यकार के अनुसार चित्त के मलों को दूर करना ही आभ्यन्तर शौच है। वाचस्पति मिश्र ने मद, अभिमान एवं ईर्ष्यादि को चित्त का मल माना है और उन्हीं को दूर करना आभ्यन्तर शौच है ऐसी व्याख्या की है। विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि चित्त का स्वभाव है सत्त्वप्रधान होना, अतएव राग, द्वेषादि (जो कि रज एवं तमोगुण के कार्य हैं) चित्त के मल कहे गए हैं, इस कारण उन्हें दूर किया जाना चाहिए। उसे दूर करने के उपाय-स्वरूप उन्होंने मैत्र्यादि परिकर्मों को उपाय रूप से उल्लिखित किया है। भास्वतीकार ने भी वाचस्पति मिश्र द्वारा उल्लिखित मद, मान, मात्सर्यादि को चित्त का मल माना है।

बाह्य शौच के फलस्वरूप साधक को अपने अंगों के प्रति जुगुप्सा अर्थात् घृणा होने लगती है, इसके साथ ही वह अन्यों के संसर्ग से भी पराङ्मुख हो जाता है।

सन्तोष: सन्तोष से तात्पर्य है कि जो विषय प्राप्त हो गए हैं उनसे अधिक की लालसा न करे।¹⁸ क्योंकि व्यक्ति तभी दुःख का अनुभव करता है जब वह जो पाना चाहता है, उसे प्राप्त न कर पाये, जब वह आवश्यकता से अधिक वस्तुओं की कामना ही नहीं करेगा तो उसे किसी प्रकार के दुःख का भी अनुभव नहीं होगा। आवश्यक वस्तुएं कौन-सी मानी जा सकती है इस पर प्रकाश डालते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि जिन वस्तुओं के बिना जीवन यापन न हो सके उनसे अतिरिक्त की लालसा न करना ही सन्तोष है। विज्ञानभिक्षु जीवन यापन के लिए भी जो वस्तुयें अत्यावश्यक हैं उनसे ही सन्तुष्ट रहने को सन्तोष मानते हैं।

वाचस्पति मिश्र ने यहाँ इस बात का विशेष-रूप से उल्लेख किया है कि संतोष की प्राप्ति साधक को तभी होती है जबकि उसमें अपरिग्रह की भावना पहले से ही विद्यमान हो।¹⁹

संतोष जहाँ एक ओर भौतिक साधनों की लालसा से साधक को विरत करता है वहाँ इसके द्वारा वह योग-मार्ग पर अपनी गति को अधिक तीव्र बना लेता है क्योंकि अब वह चिन्तामुक्त होकर एकाग्रभाव से ध्यानादि में लग सकता है।

संतोष के द्वारा जिस अलौकिक सुख की प्राप्ति होती है भौतिक सुखों से वह कई गुणा अधिक होता है। सूत्रकार ने उसे परमसुख कहा है।²⁰ जिस अलौकिक सुख की उपलब्धि साधक को उस समय होती है, वह बुद्धिसत्त्व का नैसर्गिक-गुण है, वह तृष्णाक्षय रूप प्रतिबन्ध के हट जाने से आविर्भूत हो जाता है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है।

क्रियायोग के अन्तर्गत आने वाले जो तीन तत्त्व- तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान हैं अब क्रमशः उनका स्वरूप एवं प्रयोजन बताते हैं।

तप: सूत्रकार ने तप की परिभाषा नहीं दी है, भाष्यकार द्वन्द्वों को सहना ही तप मानते हैं, द्वन्द्व से तात्पर्य क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्णता, आसन-स्थान तथा काष्ठमौन एवं आकारमौन आदि है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि तप उतना ही करना चाहिये जितने से धातु-वैषम्य न हो। विज्ञानभिक्षु प्रसन्नता के अविरोधी तप को उचित मानते हैं। भाव यह है कि तप उतना ही किया जाना चाहिये जितने से चित्त प्रसन्न रहे और शरीर तथा आत्मा की शुद्धि हो सके।

तप के द्वारा अनादिकालीन अशुद्धि का क्षय होने से शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।²¹ यह अशुद्धि अनादिकालीन कर्म एवं क्लेश की वासनाओं से चित्रित है तथा इसके फलस्वरूप ही विभिन्न-समूह प्रस्तुत हो कर चित्त को आकृष्ट कर लेते हैं। वाचस्पति मिश्र के अनुसार त्रिगुणात्मक चित्त में जब सत्त्वगुण को अभूत कर रज एवं तमोगुण का उद्रेक हो जाता है तब यह दशा ही चित्त की अशुद्धि कहलाती है। तप के द्वारा साधक के चित्त में धीरे-धीरे इन गुणों का

अभिभव होता जाता है, साथ ही सत्वगुण का आधिक्य। विज्ञानभिक्षु के अनुसार पापात्मक चित्त की अशुद्धि ही विषयजाल को प्रस्तुत करती है तथा ये विषय-समूह चित्त को चंचल बना देते हैं जिससे साधक चित्त को एकाग्र नहीं कर पाता। अतएव योग विरोधी होने से यह पाप ही चित्त की अशुद्धि है। तप की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए भाष्यकार व्यास ने तो यहां तक कहा है कि जो तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध हो नहीं सकता।²²

स्वाध्याय: क्रियायोग के अन्तर्गत आने वाला दूसरा तत्त्व है स्वाध्याय। स्वाध्याय से तात्पर्य यह है कि साधक प्रणव आदि पवित्र मन्त्रों का जप करे तथा मोक्षप्रद शास्त्रों का निरन्तर अध्ययन करता रहे। वाचस्पति मिश्र प्रणव आदि की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि पुरुष सूक्त, रुद्रमण्डल एवं ब्राह्मण आदि वैदिक-ग्रन्थ तथा ब्रह्मपारायण आदि पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन ही स्वाध्याय है। विज्ञानभिक्षु के मत में जिन पवित्र मन्त्रों के जाप को स्वाध्याय कहा गया है उनसे किन्हीं विशिष्ट मन्त्रों को ही नहीं समझना चाहिये अपितु जो भी मन्त्र पापों को क्षीण करने में समर्थ हों वही पवित्र मन्त्र हैं। और उसके जाप को स्वाध्याय माना जा सकता है। नियमों के मध्य वर्णित स्वाध्याय का फल बताते हुए सूत्रकार लिखते हैं कि स्वाध्याय के द्वारा इष्ट-देवता का साक्षात्कार हो जाता है। विज्ञानभिक्षु और अधिक स्पष्ट करे हुए लिखते हैं कि साधक जिस देवता को देखना चाहता है स्वाध्याय के द्वारा वही देवता उसे दृष्टिगत हो जाता है।

ईश्वर-प्रणिधान: क्रियायोग के मध्य वर्णित तीनों क्रियाओं में ईश्वर-प्रणिधान का सर्वाधिक महत्त्व है। क्रियायोग एवं नियम दोनों के अन्तर्गत ही इसका प्रधान-रूप से वर्णन किया गया है। समाधि-पाद के अन्तर्गत भी एक ईश्वर-प्रणिधान का उपदेश साधक के लिए दिया गया है। पुनः साधन-पाद में दो स्थलों पर ईश्वर-प्रणिधान का वर्णन आता है। इसे देखकर एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह होती है कि क्या तीनों स्थलों पर वर्णित ईश्वर-प्रणिधान एक ही है या अलग-अलग? सूत्रकार एवं भाष्यकार ने इस शंका का कोई समाधान नहीं किया है। टीकाकार वाचस्पति मिश्र भी इस विषय में मौन हैं। विज्ञानभिक्षु ने इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि प्रथम पाद में जिस ईश्वर-प्रणिधान का उपदेश दिया गया है वह भावना-रूप है उससे अतिरिक्त प्रणिधान का यहां अर्थात् क्रियायोग एवं अष्टांगयोग दोनों के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। ईश्वर-प्रणिधान को यहां भी भावना-रूप ही क्यों न मान लिया जाय, इसका कारण देते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि ईश्वर-भावना तो ध्यान-स्वरूप है अतएव वह अन्तरंग ही है और यहां पर सर्व कर्मों का ईश्वर में अर्पण करना रूप जो ईश्वर-प्रणिधान है उसका मुख्य ध्येय ईश्वर न होकर कर्मों का अर्पण है अतः वह बहिरंग है इस कारण दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

समाधि-पाद के अन्तर्गत जिस ईश्वर-प्रणिधान का वर्णन किया गया है उसके स्वरूप को स्वयं सूत्रकार ने ही 'तज्जपः तदर्थभावनम्' के द्वारा स्पष्ट कर दिया है किन्तु साधन-पाद में यहां क्रियायोग के अन्तर्गत तथा अष्टांगयोग में नियमान्तर्गत किसी भी स्थल पर उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है। परन्तु भाष्यकार ने दोनों ही स्थलों पर इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समस्त कर्मों का उस परमगुरु में समर्पित करना अथवा किए हुए कर्मों के फल का संन्यास ही ईश्वर-प्रणिधान है।

3. आसन

योगांगों में तीसरा स्थान आसनों का है। हठयोग के विभिन्न ग्रन्थों में आसनों का विस्तृत-वर्णन दिया गया है। जबकि पतंजलि इसे योग-साधना के लिए आवश्यक सुख-पूर्वक बैठने की रीति मानते हैं उन्होंने लिखा है कि साधक जिस रीति से सुखपूर्वक स्थिरता से बैठ

सके वही आसन है।²³ वाचस्पति ने भाष्यकार द्वारा उल्लिखित पद्म, वीरभद्रादि बारह आसनों में बैठने की रीति का उल्लेख किया है। विज्ञानभिक्षु ने इन सभी आसनों के प्रकार को स्पष्ट किया है साथ ही उन्होंने अर्द्धपद्मासन का भी उल्लेख किया है। विभिन्न ग्रंथों में आसनों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है। विज्ञानभिक्षु का मत है कि जितने प्रकार के जीव हैं उन सबके जितने बैठने के प्रकार हैं उतने ही आसन हैं ऐसा जानना चाहिए²⁴ अर्थात् आसन असंख्य हैं। ई. वुड ने आसनों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। उनके अनुसार कुछ आसन ध्यानावस्था के योग्य होते हैं जिनमें साधक लम्बे समय तक बिना किसी कठिनाई के बैठ सकता है। दूसरे आसनों का उद्देश्य शारीरिक-स्वास्थ्य को सुदृढ़ करना है, इनमें साधक को अधिक समय नहीं लगता। जोशी भी वुड की भांति ही आसनों की यही दो श्रेणियाँ मानते हैं। अभेदानन्द लिखते हैं कि कुछ लोग स्थिर होकर बैठ ही नहीं सकते, ये यदि हिलते-डुलते रहें, साथ ही चित्त को एकाग्र करना भी चाहें, तो सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर एवं मस्तिष्क का पारस्परिक सम्बन्ध है। शरीर के गतिशील रहने के साथ-साथ मस्तिष्क का एक भाग भी गतिमान रहता है, अतएव ध्यान लगाने के लिए शरीर को स्थिर रखना होगा और यह स्थैर्य आसनों के अभ्यास द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आसन को सुदृढ़ करने के उपाय-स्वरूप सूत्रकार लिखते हैं कि प्रयत्नों को शिथिल किया जाये। किन्तु प्रयत्नों को शिथिल करने से आसनों में स्थैर्य आता है इस विषय में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु में पर्याप्त मतभेद है। वाचस्पति मिश्र आसनकाल में सामान्य शारीरिक क्रियाओं को रोकना अभीष्ट समझते हैं परन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में आसनकाल से पूर्व की शारीरिक क्रियाओं के द्वारा थकान होने के कारण, आसनबन्धकाल में अंगकम्पन होता है अतएव आसनसिद्धि नहीं हो पाती, भाव यह है कि प्रयत्नों को शिथिल करने से तात्पर्य आसनकाल से पूर्व क्रियाओं को शिथिल करना है। आसनों के सिद्ध हो जाने पर साधक को ध्यान करने में तो लाभ होता ही है साथ ही शीत-उष्णादि द्वन्द्व भी उसे विचलित नहीं करते²⁵, जिससे वह निर्विघ्न रूप से ध्यान कर सकता है। साधक की योग-साधना में तो आसनों का महत्वपूर्ण स्थान है ही, साथ ही सामान्य मनुष्यों के लिए भी ये कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

4. प्राणायाम

अष्टांग-योग-साधनों में आसन के पश्चात् प्राणायाम का स्थान है, भाष्यकार का मत है कि आसनों की सिद्धि के उपरान्त ही प्राणायाम का अभ्यास किया जाना चाहिए। अर्थात् उठते-बैठते या चलते-फिरते यदि कोई व्यक्ति प्राणायाम करना चाहे तो असम्भव है या फिर वह उचित रीति नहीं कही जा सकती, अतएव प्राणायाम का अभ्यास करने के लिए साधक को एक निश्चित आसन में ही बैठना चाहिए तभी वह सफल हो सकता है अन्यथा नहीं।

प्राणायाम यह समस्त पद प्राण एवं आयाम इन दो पदों से बना है—प्राणस्य आयामः इति प्राणायामः। साधारण प्रयोग में हम प्राण का अर्थ मात्र प्राण वायु से लेते हैं जो कि श्वास के द्वारा शरीर में प्रविष्ट होती है एवं प्रश्वास के द्वारा उच्छ्वासित कर दी जाती है। परन्तु यहाँ पर प्राणायाम का उद्देश्य मात्र उस एक प्रकार के प्राण को रोकना ही नहीं है अपितु शरीर में विद्यमान, प्राणी की समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों के व्यापार को गति देने वाली जीवनी शक्ति को नियंत्रित करना है। वह जीवनी शक्ति ही यहां प्राण शब्द से अभिप्रेत है।

विज्ञानभिक्षु का मत है कि अन्य अपान आदि विभिन्न वायुओं को भी प्राण शब्द से अभिहित करने का कारण उसका मुख्यत्व एवं अन्यों का गौणत्व ही है। जिस प्रकार कि राजा के अनुचरों के लिए भी राजा शब्द का प्रयोग प्रायः कर दिया जाता है। अतएव प्राणायाम का उद्देश्य उस जीवनी शक्ति को नियंत्रित करना है जो कि समस्त इन्द्रियवृत्तियों को गति प्रदान करती है, जिसके नियन्त्रण से स्वतः ही इन्द्रियां नियंत्रण

में आ जायेंगी। इस प्रकार क्रमशः साधक अपने चित्त को भी नियंत्रित कर सकता है। यही कारण है कि सूत्रकार ने चित्त को नियंत्रित करने के उपाय—स्वरूप प्राणवायु को नियंत्रित करने का उपदेश दिया है।²⁶ समस्त वायुओं में प्रधान इस प्राण नामक वायु पर नियंत्रण पाने से चित्त को नियंत्रित किया जा सकता है क्योंकि दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध है ऐसा भोजदेव ने भी लिखा है।

सूत्रकार ने चार प्रकार के प्राणायाम बताये हैं प्रथम बाह्य—वृत्तिक, द्वितीय आभ्यन्तर—वृत्तिक, तृतीय स्तम्भ—वृत्तिक, तथा चतुर्थ वह प्राणायाम होता है जिसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के विषयों का अतिक्रमण कर दिया जाता है। जब प्रश्वास के पश्चात् श्वास की गति को रोक दिया जाता है तो वह बाह्यप्राणायाम कहलाता है।²⁷ उसे दोनों ही टीकाकारों ने रेचक संज्ञा दी है, जबकि भाष्यकार ने प्राणायाम का नामसंकीर्तन नहीं किया है। श्वास लेकर प्रश्वास की गति को रोक देना दूसरे प्रकार का प्राणायाम है जिसे पूरक कहा जाता है। तीसरे प्रकार का प्राणायाम वह है जिसमें श्वास एवं प्रश्वास दोनों की गति को एक प्रयत्न से ही रोक दिया जाता है।²⁸ इसे कुम्भक प्राणायाम कहते हैं इसमें शरीर निश्चल हो जाता है, चौथे प्रकार का प्राणायाम तीसरे का ही प्रकार—भेद जानना चाहिए क्योंकि उसमें भी श्वास एवं प्रश्वास की गति का पूर्ण—निरोध हो जाता है और शरीर—स्थित प्राण निष्क्रिय हो जाता है। दोनों में अन्तर को स्पष्ट करने के लिए ही भाष्यकार ने तृतीय प्राणायाम एक बार के प्रयत्न से सम्भव है यह विशेषण दिया है। जबकि चतुर्थ केवल कुम्भक निरन्तर अभ्यास के द्वारा स्वयं ही सिद्ध होने वाला है। उसके लिए पूर्व की भूमियों अर्थात् रेचक, पूरक एवं सहित—कुम्भक पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

प्रथम तीन प्राणायामों की दीर्घ—सूक्ष्मता को देश, काल एवं संख्यादि के द्वारा जाना जा सकता है।²⁹

देश—काल एवं संख्यादि के द्वारा जो प्राणायाम की दीर्घ—सूक्ष्मता की परीक्षा की जाती है वह प्रथम तीन प्राणायामों की ही होती है, न कि चतुर्थ की भी क्योंकि वह तो मिश्र—कुम्भक (तृतीय) की दीर्घ—सूक्ष्मता के सिद्ध हो जाने पर स्वयं ही सिद्ध होने वाला प्राणायाम है और यह देश, काल एवं संख्यातीत है।

प्राणायामों की पूर्ण—रूप से सिद्धि हो जाने पर प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है ऐसा सूत्रकार लिखते हैं।³⁰ प्रकाश से तात्पर्य विवेक ज्ञान से है उसे आवृत्त करने वाले कर्म इसके द्वारा क्षीण हो जाते हैं। आवरक कर्मों से तात्पर्य कोपनीय एवं रंजनीय कर्मों के द्वारा उत्पन्न अपुण्य तथा उसके कारण स्वरूप क्लेश जानने चाहिए, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है। विज्ञानभिक्षु कर्म का अर्थ अधर्म मानते हैं उनका मत है कि यहां पर वह ज्ञान का आवरण कर्म इस कारण कहा गया है क्योंकि वह ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का प्रतिबन्धक है। इस आवरण के दुर्बल होने से तात्पर्य यह है कि वह धीरे—धीरे आवरण करने में असमर्थ होता जाता है और ज्ञान अपने प्रकाश की ओर उन्मुख हो जाता है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है। वह प्राणायाम को तप से भी श्रेष्ठ मानते हैं और स्वमत की पुष्टि हेतु लिखते हैं— यही कारण है कि सूत्रकार ने भी प्रथम पाद में उत्तम अधिकारियों के लिए मात्र प्राणायाम को ही साधन के रूप में वर्णित किया है।

व्यास ने स्वयं ही प्राणायाम को तप से श्रेष्ठ मानते हुए उद्धरण प्रस्तुत किया है कि प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। उससे मलों की शुद्धि एवं ज्ञान की दीप्ति होती है।³¹

प्राणायाम के द्वारा चित्त में विद्यमान क्लेश रूप मलों का क्षय तो होता ही है साथ ही एक विषय पर चित्त को एकाग्र करने की क्षमता भी बढ़ती जाती है³², यही बात सूत्रकार ने प्रथम पाद में उत्तमाधिकारियों के चित्त की स्थिरता प्राप्ति—हेतु भी कही है। अतएव यदि प्राणायाम को धारणा, ध्यान एवं समाधि आदि के लिए अनिवार्य साधन मानें तो अनुचित न होगा।

5. प्रत्याहार

प्राणायाम के पश्चात् योग—साधनों के अन्तर्गत प्रत्याहार का उल्लेख योगसूत्रकार ने किया है, चित्त जब प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास द्वारा एकाग्रता के योग्य हो जाता है तो साधक को चाहिये कि वह उसे किसी उचित विषय पर केन्द्रित करे, अन्यथा यदि किसी अनुचित विषय में संलग्न हो गया तो साधक की सम्पूर्ण साधना ही व्यर्थ हो सकती है। अतः इसके लिये साधक को चाहिए कि वह विभिन्न सांसारिक विषयों में आकृष्ट करने वाली साधनभूत पंचेन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त कर उन्हें अन्तर्मुखी बनाये, जब इन्द्रियां बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होंगी तो निश्चय ही वे चित्ताकाराकारित हो जायेंगी, अतः चित्त के ध्येय—विषय वाली के समान ही अन्य इन्द्रियां भी होंगी। यह प्रत्याहार द्वारा ही सम्भव है क्योंकि इन्द्रियों का अपने विभिन्न विषयों से सम्प्रयोग न होने पर उनका चित्ताकाराकारित सा हो जाना ही प्रत्याहार है।³³ विज्ञानभिक्षु प्रत्याहार को इन्द्रियों का ही धर्म मानते हैं। वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि चित्त का जो एक तत्त्व में एकाग्रता प्राप्त करने पर इन्द्रियों द्वारा उसका अनुकरण करना है उसे बाह्य—विषयानुराग नहीं मानना चाहिए। जितेन्द्रिय की इन्द्रियां किस प्रकार उसके चित्त का अनुकरण करती है उसे स्पष्ट करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि जितेन्द्रिय की इन्द्रियां ध्यानकाल में चित्त के ध्येयवस्त्वाकारित होने पर मानो उसका अनुकरण करने लगती है, क्योंकि उस काल में वे मन के साथ मिलकर स्वतंत्र रूप से अन्य विषयों को निश्चित नहीं करतीं, साथ ही चित्त के निरोधोन्मुखी होने पर उसकी इन्द्रियां भी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा न रखती हुई स्वयं ही निरुद्ध हो जाती है। यम—नियम—आसन—प्राणायाम एवं प्रत्याहार इन पांचों साधनों की सूत्रकार ने बहिरंग संज्ञा दी है तथा धारणा, ध्यान एवं समाधि इन अन्तिम तीन को अंतरंग कहा है। आठों योग—साधनों का यह द्विविध विभाजन किस कारण से किया गया है तथा बहिरंग एवं अन्तरंगता किस आधार पर मानी गई है इसका कारण देते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि ये तीनों साध्य के समान विषय वाले होने से अन्तरंग कहे जाते हैं जबकि यम आदि का विषय वह नहीं होता जो कि सम्प्रज्ञात समाधि का है, अतः वे बहिरंग माने जाते हैं। बहिरंग साधनों का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के पश्चात् अब अंतरंग साधनों का वर्णन किया जा रहा है—

6. धारणा

धारणा, ध्यान एवं समाधि इन तीन साधनों से सूत्रकार ने सर्वप्रथम धारणा का नामोल्लेख किया है, इसका विशेष—अभिप्राय यह है कि इन तीनों में निश्चित पौर्वापर्य है अर्थात् इनकी साधना इसी क्रम में की जानी चाहिए। धारणा को सिद्ध किये बिना ध्यान की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है। देश—विशेष में चित्त को बांधना धारणा है, ऐसा सूत्रकार ने कहा है। बांधने से तात्पर्य है कि उस देश से सम्बन्ध स्थापित करना। देश दो प्रकार के बताये गये हैं प्रथम आध्यात्मिक देश तथा नाभिक्रम, हृदयकमल, मूर्धाज्योति, नासिकाग्र एवं जिह्वाग्र आदि। अन्य प्रकार के देश का नाम—संकीर्तन भाष्यकार ने नहीं किया है अपितु 'अथवा बाह्ये वा विषयो' मात्र इतना ही कहा है। वाचस्पति मिश्र ने इसकी व्याख्या करते हुए हिरण्यगर्भ, वासुदेव एवं प्रजापति इत्यादि शुभाश्रयों को बाह्य ध्येय विषय माना है। आध्यात्मिक देशों का वर्णन करते हुए भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त आदि के द्वारा तालु आदि अन्य शरीर के भागों का ग्रहण किया जाना चाहिए ऐसा भी वह मानते हैं। विज्ञानभिक्षु बाह्य देश से तात्पर्य चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि आदि तथा ईश्वर एवं देवता आदि देशों को ध्यान करने योग्य मानते हैं। आध्यात्मिक देशों का वर्णन करते हुए प्रयुक्त आदि पद के द्वारा अभिप्राय गरुड—पुराण आदि में वर्णित उनसे अतिरिक्त देशों को जानना चाहिए तथा— उर, कण्ठ, नेत्र, भूमध्य एवं मूर्धा से कुछ परे। इन्हीं स्थलों पर विशेष—रूप से धारणा किये जाने का कारण बताते हुए वह लिखते हैं कि ये जीव एवं ईश्वर के व्यंजक लिंगशरीर के मुख्य स्थल हैं। वाचस्पति मिश्र का मत है कि बाह्य विषयों

के साथ चित्त का सम्बन्ध असम्भव है अतः भाष्यकार ने वृत्तिमात्र के द्वारा अर्थात् ज्ञानमात्र के द्वारा उन पर चित्त को केन्द्रित किया जा सकता है, ऐसा कहा है। विज्ञानभिक्षु ने प्राणायाम—'द्वादशकालावच्छिन्नत्वेन' यह विशेषण सूत्र के साथ प्रयुक्त करने का परामर्श दिया है। उनका मत है कि चित्त यदि बारह प्राणायाम पर्यन्त एक ही ध्येय पर केन्द्रित रहे तभी उसे धारणा कहा जा सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि क्षणमात्र के लिए तो किसी का भी चित्त कहीं भी केन्द्रित हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने कालसम्बन्धी किसी सीमा का निर्धारण नहीं किया है।

7. ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्। उस देश—विशेष में जिसमें साधक ने धारणा को सिद्ध किया है, चित्त का निरन्तर सदृश—प्रवाह ही ध्यान कहा जाता है। एकानानता से तात्पर्य है चित्त का एकाग्रता, ऐसा वाचस्पति मिश्र का मत है। ध्यानावस्था काल में चित्त के सदृश—प्रवाह की उपमा निरन्तर प्रवाहित होने वाली तैल—धारा से दी गई है। शंकराचार्य ने भी सववेदान्त—सिद्धान्त—सार संग्रह नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत ध्यान का लक्षण देते हुए लिखा है कि तैलधारा के समान जो वृत्ति का अनवच्छिन्न प्रवाह है वह ध्यान कहा जाता है।³⁴ भाष्यकार ने भी वृत्त्यान्तर से अबाधित सदृश—प्रवाह को ही ध्यान माना है। जिस प्रकार ध्यानावस्था में चित्त की पूर्ण एकाग्रता धारणा पर विजय प्राप्त किये बिना असम्भव बताई गयी है उसी प्रकार अन्तिम योगांग समाधि के लिये ध्यान पर विजय प्राप्त करना भी साधक के लिए अनिवार्य है।

8. समाधि

अष्टांग—योग के अन्तर्गत मन्दाधिकारी के द्वारा ध्यान—साध्य समाधि, ध्यान की ही अवस्था विशेष है। ध्यानावस्था में साधक को ध्याता, ध्येय एवं ध्यान तीनों की सत्ता का अनुभव होता रहता है, परन्तु समाधि—काल में वह नहीं रहता, यही दोनों का वैभिन्न्य है, ऐसा विज्ञानभिक्षु का मत है। समाधि अवस्था में ध्यान की सत्ता नहीं रहती ऐसा नहीं जानना चाहिए, क्योंकि यदि ध्यान रहेगा ही नहीं तो ध्येय का द्योतन किस प्रकार हो सकेगा। यही कारण है कि सूत्रकार ने 'इव' पद का प्रयोग किया है। समाधि का यह लक्षण अष्टांग—योग के अन्तर्गत उपदिष्ट अंग समाधि के लिए ही प्रयुक्त होता है, अंगी समाधि इससे भिन्न है। इन दोनों के पार्थक्य को स्पष्ट करते हुये विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि अंग समाधि में ध्येय के जिस रूप का चिन्तन किया जाता है मात्र उसका ही निर्भास होता है, जबकि अंगी सम्प्रज्ञात समाधि में साक्षात्कार के उदय हो जाने के कारण अचिन्तनीय विशिष्ट विषयों का भी साक्षात्कार साधक का हो जाता है। धारणा, ध्यान एवं समाधि जब एक विषय—विषयक हो तो संयम संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।³⁵ इसे भाष्यकार ने तान्त्रिकी परिभाषा कहा है। इसका मुख्य कारण उन तीनों का पृथक् पृथक् उच्चारण में गौरव होना ही है, ऐसा दोनों टीकाकार मानते हैं। जैसे—जैसे साधक संयम पर विजय प्राप्त करता जाता है वैसे—वैसे समाधि—प्रज्ञा का आलोक होता जाता है अर्थात् स्फुट हो जाती है। संयम क्रमशः स्थूल विषय से प्रारम्भ कर सूक्ष्म विषय की ओर साधक को बढ़ाना चाहिये तभी वह सिद्धि प्राप्त कर सकता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर किस क्रम में बढ़े इस विषय में साधक को चिन्ता करना व्यर्थ है, क्योंकि एक भूमि को जीतकर साधक स्वयं ही अपने अन्य क्षेत्र को योग के द्वारा प्राप्त कर लेता है ऐसा व्यास ने भी कहा है। वाचस्पति मिश्र ने इनका क्रम सवितर्क, निर्वितर्क एवं सविचार और निर्विचार माना है। परन्तु विज्ञान—भिक्षु ने व्यास की उक्ति के अनुरूप ही योग को ही उपाध्याय माना है, अतः क्रम की व्याख्या नहीं की है।³⁶ इस प्रकार हम देखते हैं कि वाचस्पति मिश्र ने साधकों की दो ही श्रेणियाँ मानी है परन्तु विज्ञानभिक्षु ने तीन। उत्तम कोटि के साधकों हेतु तो दोनों ही टीकाकार अभ्यास एवं वैराग्य रूप साधनों का

उल्लेख करते हैं। क्रियायोग का उपदेश वाचस्पति मिश्र के मत में व्युत्थित—चित्त वाले साधकों हेतु ही किया गया है, जबकि विज्ञानभिक्षु इसे मध्यम कोटि के साधकों के लिये उपदिष्ट मानते हैं। अष्टांग—योग का उपदेश भी वाचस्पति मिश्र के मत में व्युत्थित चित्त वालों के हेतु ही हुआ है, परन्तु विज्ञानभिक्षु इसे मन्दाधिकारियों के लिए ही मानते हैं।

संदर्भ सूची

1. चित्तशब्देनान्तःकरणं बुद्धिमुपलक्षयति। —त.वै., पृ. 3
2. यो.सू. 2/30
3. ब्रह्मचर्यदयाक्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता।
अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः।। —या.स्मृ. 2/222
4. आश्रमविहितनित्यकर्माविरोधेनेति विशेषणीया। —यो.वा., पृ. 244
5. तत्र हिंसा तावत्—कृता कारितानुमोदितेति त्रिधा। —व्या.भा., पृ. 251
6. उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव प्रतिपादनीयाः। —व्या. भा., पृ. 242
7. तदवदातरूपकरणायैवोपदीयन्ते। — व्या.भा., पृ. 242
8. यद्युत्तरे नानुष्ठीयेरन्निहिंसा मलिना स्यादसत्यादिभिरित्यर्थः। —त.वै., पृ. 243
9. सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र—स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता। —व्या.भा., पृ. 243
10. स्वबोधसदृशबोधजननाय...। त.वै., पृ. 243
11. स्वबोधे ह्यस्य हस्तिहननविषय इन्द्रियजन्मा। न चासौ संक्रान्तः किं त्वन्य एव तस्य तनयावबोधो जात इति। —त.वै., पृ. 243—44
12. तत्र हि गजविषये वाक्यस्य सत्यत्वेपि मनसो न सत्यत्वं दृष्टविपरीतद्रोणापुत्रहनने तात्पर्यादिति। —यो.वा., पृ. 245
13. क्रियासाध्यौ धर्माधर्मौ क्रिया। तत्फलं च स्वर्गनरकादि। त.वै., पृ. 255
14. स्तेयं परस्वापहरणाम् तदभावोस्तेयम्। — भो.वृ., पृ. 224
15. सर्वदिक्स्थान्यस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि। व्या.भा., पृ. 255
16. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। —यो.सू. 2/38
17. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। —यो.सू. 2/32
18. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। —कु.सं. पंचम सर्ग
19. सन्तोषः संनिहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा। —व्या.भा., पृ. 248
20. प्रागेव स्वीकरणापरित्यागादिति विशेषः। त.वै., पृ. 248
21. संतोषादनुत्तमः सुखलाभः। —यो.सू. 2/42
22. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। —यो.सू. 2/43
23. नातपस्विनो योगः सिध्यति। —व्या.भा. 2/1
24. स्थिरसुखमासनम्। —यो.सू. 2/46
25. यावत्यो जीवजातयस्तावन्त्येवासनानीति संक्षेपः। —यो.वा., पृ. 262
26. ततो द्वन्द्वानभिघातः। —यो.सू. 2/48
27. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणास्य। —यो.सू. 1/34
28. यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। —व्या.भा., पृ. 264
29. तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। —व्या. भा., पृ. 264
30. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिदेशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। —यो. सू. 2/50
31. ततः क्षीयते प्रकाशावरणाम्। —यो.सू. 2/52
32. तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति। व्या. भा., पृ. 270
33. धारणासु च योग्यता मनसः। —यो.सू. 2/53
34. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
35. सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरापरामृष्टो ध्यानम्। —व्या.भा., पृ. 219
36. एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। —व्या.भा., पृ. 281
37. उपाध्यायोः गुरु, योगबलादेव स्वयं जानातीत्यर्थः। —यो.वा. पृ. 282